

तृतीय अध्याय कर्मयोग

नोट: महाकवि श्री वेदप्रकाश 'वटुक' द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय गीता सोसायटी के लिए 'गीतोपदेश' का यह गीतामृत भक्तों के लिये दोहा, चौपाई, और छन्दों में रचा गया है। हमें आशा है आपको यह पसन्द आयेगा। सम्पूर्ण गीता (दोहा, चौपाई, और छन्दों में)

sanjay@gita-society.com द्वारा प्राप्त करें।

वसुदेवसुतं देवं, कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं, कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥१॥

अर्जुन बोले –

दोहा – तव मत में यदि बुद्धि है, कृष्ण, कर्म से ज्येष्ठ ।
घोर कर्म में क्यों मुझे, लगा रहे सुरश्रेष्ठ ॥३.०१॥
उलझन भरे वचन तव मिश्रित, बुद्धि कर रहे मम भ्रम-मोहित ।
एक वचन कहिये निश्चय कर, जो हो मुझको, प्रभु, श्रेयस्कर ॥३.०२॥

श्रीभगवान बोले –

दो प्रकार की निष्ठा अर्जुन, की है पहले मैंने वर्णन ।
ज्ञानयोग से ज्ञानी जन की, कर्मयोग से योगीगण की ॥३.०३॥
अनारम्भ से ही कर्मों के, जन निष्काम-भाव नहीं होते ।
और न कर्म-त्याग से केवल, सिद्धि-प्राप्ति का है मिलता फल ॥३.०४॥
बिना कर्म करते कोई नर, कभी न रह पाता है पल भर ।
प्रकृति-जन्य गुण द्वारा सब जन, करते कर्म अवश्य अवश मन ॥३.०५॥
कर्मन्द्रियों को वश में कर जन, जो करता विषयों का चिन्तन ।
मन से, मूढ आत्म-अविचारी, कहलाता वह मिथ्याचारी ॥३.०६॥
इन्द्रियों को मन से वश में कर, अनासक्त कर्मन्द्रियों से नर ।
कर्मयोग आचरण करे जो, अर्जुन, श्रेष्ठ सुनिश्चित है वो ॥३.०७॥
दोहा – विधिवत कर तू कर्म को, श्रेष्ठ अकर्म से कर्म ।
कर्म बिना न सधे कभी, तन का भी तव धर्म ॥३.०८॥
जो यज्ञार्थ किये नहीं अर्जुन, बनते कर्म मनुज को बन्धन ।
सो आसक्ति-रहित नित होकर, शुचितम कर्म-आचरण को कर ॥३.०९॥
यज्ञ-सहित रच सृष्टि प्रजा को, आदिकाल ब्रह्मा बोले यों ।
यज्ञ-कर्म कर बढ़ा निरन्तर, मिले इष्टफल सभी यजन कर ॥३.१०॥
यज्ञ द्वारा देवों को उन्नत, करो देव औ तुम्हें समुन्नत ।
उन्नति करते हुए परस्पर, पाओ परम सुफल श्रेयस्कर ॥३.११॥
यज्ञ-तृप्त होकर सुर तव हित, करें प्रदान भोग-फल वाञ्छित ।
दैवी फल बिन सुरगण-अर्पित, भोगे जो नर, चोर सुनिश्चित ॥३.१२॥
यज्ञ से बचे अन्न का भोजन, सन्त करें, छूटें अध बन्धन ।
पापी जो निज हेतु पकाते, वे हैं स्वयं पाप ही खाते ॥३.१३॥
अन्नोत्पन्न जीवजन सारे, अरु वर्षा से अन्न उगारे ।
और यज्ञ से वर्षा सम्भव, कर्मों से है यज्ञ समुद्रव ॥३.१४॥
कर्म हुआ है ब्रह्म से, ब्रह्म अक्षर से जान ।
सब में व्यापी ब्रह्म यूँ, यज्ञ-रमा नित मान ॥३.१५॥
चलते चक्र-अनुसार नहीं जो, करता है व्यवहार नहीं वो ।
अर्जुन, इन्द्रिय-लम्पट-कामी, व्यर्थ जी रहा पाप-विरामी ॥३.१६॥
प्रीति करे आत्मा में जो पर, लृप्त आत्मा में ही जो नर ।
है संतुष्ट आत्मा में ही, उसके लिये कार्य नहीं कोई ॥३.१७॥
उसका विश्व-लोक में, अर्जुन, कर्म-अकर्म से नहीं प्रयोजन ।
सभी प्राणियों में उसके हित, स्वार्थपूर्ण सम्बन्ध न किंचित ॥३.१८॥
अनासक्त यूँ, पार्थ, निरन्तर, तू कर्तव्य-कर्म-पालन कर ।
अनासक्त रह कर्म करे जो, परमात्मा को प्राप्त करे वो ॥३.१९॥

विज्ञा विदेह आदि सब ने ही, सिद्धि प्राप्त की कर्मों से ही ।
 करके और लोक-हित-मंथन, कर्म-पात्र हो शुभ तू अर्जुन ॥३.२०॥
 जो जो श्रेष्ठ आचरण करता, जन-समाज वैसा ही करता ।
 वह जो है प्रमाण कर देता, लोक उसी पथ पग धर देता ॥३.२१॥
 त्रिभुवन में कर्तव्य मम, यद्यपि पार्थ, न धर्म ।
 प्राप्य न कुछ अप्राप्त है, तदपि करूँ मैं कर्म ॥३.२२॥
 कर प्रमाद का पूर्ण विसर्जन, यदि न कर्मरत होऊँ, अर्जुन ।
 सब प्रकार बही कदाचित, मम पथ का अनुसरण करें नित ॥३.२३॥
 कर्म-विरत मैं अगर हुआ रे, लोक नष्ट हो जायें सारे ।
 बनूँ वर्णसंकर का कर्ता, प्रजा-प्राण सब ही का हर्ता ॥३.२४॥
 कर्मासक्त मूढ़जन, भारत, जैसे हुए कर्म में हैं रत ।
 बुधजन अनासक्त त्यों होकर, कर्म करें जनहित से मन भर ॥३.२५॥
 कर्मासक्त महा अज्ञानी, करे भ्रमित तिन बुद्धि न ज्ञानी ।
 कर्म करे शुचि हो योगस्थित, करे अन्य को भी वह प्रेरित ॥३.२६॥
 त्रिगुणों का माध्यम अपनाती, प्रकृति सभी है कर्म कराती ।
 अहंकार-मोहित-आत्मा जन, 'मैं करता हूँ' माने निज मन ॥३.२७॥
 गुण और कर्मविभागों को जो, तत्त्व जानते हैं बुद्धजन वो ।
 गुण-गण में गुण-खेल सभी हैं, मान, नहीं आसक्त कभी हैं ॥३.२८॥
 प्रकृति-गुणों से भ्रमित, गुण-कर्मों में आसक्त ।
 मंद मूढ़ को नहीं करे, विचलित ज्ञानी भक्त ॥३.२९॥
 कर अध्यात्म-निष्ठ अपना चित, सभी कर्म कर मुझे समर्पित ।
 फल-आशा ममता तज, अर्जुन, करो युद्ध, संताप न रख मन ॥३.३०॥
 जो कोई भी श्रद्धानत नर, दोष-बुद्धि से मुक्त निरन्तर ।
 मेरे मत-अनुसार चलेंगे, कर्म-मुक्ति पूरी पा लेंगे ॥३.३१॥
 दोष-दृष्टि वाले मूरखजन, मम उपदेश न करते पालन ।
 ज्ञान विमूढ़ पूर्णतम उनको, अर्जुन, नष्ट हुआ ही समझो ॥३.३२॥
 प्रकृति-विवश जीते सब प्राणी, ज्ञानी भी और सब अज्ञानी ।
 प्रकृति-भूत सब का चेष्टा क्रम, व्यर्थ जहां निग्रह-हठ संयम ॥३.३३॥
 इन्द्रिय-इन्द्रिय-भोग-व्यवस्थित, राग-द्वेष जो जो भी हैं नित ।
 अरि, कल्याण-मार्ग-बाधा वे, उनके वश में कभी न आवे ॥३.३४॥
 शीलोचित परधर्म से बढ कर, निज गुण-हीन धर्म श्रेयस्कर ।
 मरना भी स्वधर्म में हितकर, है परधर्म महान भयंकर ॥३.३५॥

अर्जुन बोले —

हे वाष्णोय, स्वयं बिन चाहे, बलपूर्वक ज्यों अन्य कराये ।
 किसके बल से प्रेरित होकर, पाप-आचरण करता है नर ॥३.३६॥

श्रीभगवान बोले —

रज गुण से उत्पन्न है, यही क्रोध, यही काम ।
 अग्नि-समान अतृप्त अरि, अधम जान अविराम ॥३.३७॥
 ढके आग धूरं से जैसे, दर्पण टक जाता ज्यों मल से ।
 जैसे जेर से गर्भ टका है, युंही काम से ज्ञान टका है ॥३.३८॥
 हे कौन्तेय, अतृप्त अनल सा, बुद्धजन का नित शत्रु प्रबल सा ।
 काम सभी का ज्ञान ढके है, शान्त उसे कर कौन सके है ॥३.३९॥
 इन्द्रियां, बुद्धि और इसके मन, हैं आवास, कहें ज्ञानी जन ।
 इन से काम ज्ञान को ढक कर, देही को देता मोहित कर ॥३.४०॥
 अतः इन्द्रियां वश में, अर्जुन, करो प्रथम, फिर इसका मर्दन ।
 चिर पापी, अरि, काम, विनाशी, यह विज्ञान ज्ञान का नाशी ॥३.४१॥
 शक्त श्रेष्ठ इन्द्रियां कहते जन, श्रेष्ठ इन्द्रियों से भी है मन ।
 मन से अधिक बुद्धि है उत्तम, बुद्धि-परे आत्मा सर्वोत्तम ॥३.४२॥
 श्रेष्ठ बुद्धि से आत्मा, अर्जुन, जान बुद्धि से कर वश में मन ।
 दुर्जय कामरूप है दुश्मन, मार महाबाहो, कर मर्दन ॥३.४३॥

इति तृतीयोऽध्याय

ॐ श्री गणेशाय नमः ॐ
श्री गीता चालीसा
(दैनिक पाठ के लिए, चौपाई और दोहा में)
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥१॥

धृतराष्ट्र बोले —

दोहा: धर्मभूमि कुरुक्षेत्र में, जुटे युद्ध को आन ।
कौरव-पाण्डव-कर्म का, संजय करो बयान ॥१.०१॥

संजय बोले —

यूं करुणायुत अश्रुमय, विकल नयन, अति मलान ।
अर्जुन से बोले वचन, मधुसूदन भगवान ॥२.०१॥

श्रीभगवान बोले —

शोक योग्य नहीं जो हैं, उनको । शोक करे तू, बोल वचन को —
पंडित जैसा, शोक न पंडित । करते मृत-हित या जीवित हित ॥२.११॥

बाल-युवा-वृद्धावस्था ज्यों । देही इस तन में पाता त्यों ।
मरने पर नव देह वरे है । धीर भ्रमित हो यूँ न डरे है ॥२.१३॥
जीर्ण-शीर्ण कर त्याग वसन को । धारण करता नर नूतन को ।
जीवात्मा तज यूँ क्षत तन को । पाता है शरीर नूतन वो ॥२.२२॥

हानि-लाभ जय-विजय को, सुख-दुख को सम माप ।
तत्पर हो तू युद्ध को, नहीं लगेगा पाप ॥२.३८॥

तव अधिकार मात्र कर्मों में । कभी नहीं कुछ किन्तु फलों में ।
कर्म-सुफल-आसक्ति न हो तव । औ अकर्म-अनुरक्ति न हो तव ॥२.४७॥

कर्मयोगी जन सब करे, पाप-पुण्य का त्याग ।
कर्म कुशलता है यही, योग-युक्त बन, जाग ॥२.५०॥

इन्द्रियों में रहतीं जो विचरित । जिस इन्द्रिय में है मन मोहित ।
बुद्धि वही हर लेती जन की । ज्यों जल-नौका लहर पवन की ॥२.६७॥
त्रिगुणों का माध्यम अपनाती । प्रकृति सभी है कर्म कराती ।
अहंकार-मोहित-आत्मा जन । 'मैं करता हूं' माने निज मन ॥३.२७॥

श्रेष्ठ बुद्धि से आत्मा, अर्जुन । जान, बुद्धि से कर वश में मन ।
दुर्जय कामरूप है दुश्मन । मार महाबाहो, कर मर्दन ॥३.४३॥
जब भी कभी धर्म घटता है । औ अधर्म ऊपर चढ़ता है ।
तब तब भरतश्रेष्ठ, हे अर्जुन । लेता हूं अवतार, धार तन ॥४.०७॥

गुण-कर्मों से नियम-विभाजित । चतुर्वर्ण मुझसे ही नियमित ।
कर्ता उनका जान मुझे ही । अविनाशी अनकर्ता मैं ही ॥४.१३॥
जो अकर्म कर्मों में देखे । कर्मों को अकर्म में देखे ।
योग-युक्त वह ज्ञानी है नर । योगी कर्म रहा सब वह कर ॥४.१८॥

ब्रह्म अग्नि है, होतु है, हवन ब्रह्म है हव्य ।
अर्पण भी है ब्रह्म ही, ब्रह्म ध्येय-गन्तव्य ॥

ब्रह्मरूप-शुचि-कर्म में, समाधिस्थ-अनुरक्त ।

पाता है उस ब्रह्म को, निश्चित ही वह भक्त ॥४.२४॥

ज्ञान-समान विश्व में, अर्जुन । है पवित्र कुछ और न साधन ।
उचित समय में योगी ज्ञाता । आत्म-अनुभूति को है पाता ॥४.३८॥

योग बिना अर्जुन कठिन, पाना है संन्यास ।

योगयुक्त मुनि शीघ्र ही, करे ब्रह्म में वास ॥५.०६॥

सभी कर्म कर ब्रह्म-समर्पित । अनासक्त हो कर्म करे नित ।
पाप-लिप्त होता वह नहीं । जल में कमल-पत्र की नाई ॥५.१०॥
सब जीवों में देखे मुझको । औ मुझमें सारे जीवों को ।

हूं अदृश्य न मैं उसके हित । मुझको नहीं अदृश्य वह किंचित ॥६.३०॥
ज्ञानी, जिज्ञासु औ पीडित जन । भोग-पदार्थों में जिनका मन ।
चार भांति के शुभकर्मी जन । भजते हैं मुझको, हे अर्जुन ॥७.१६॥

कई जन्म पा विज्ञ अनन्तर । "वासुदेव ही सब कुछ" कह कर ।

भजता मम करता पूजन है । दुर्लभ महाप्राण वह जन है ॥७.१९॥

शाश्वत परम भाव मम अनुपम । नहीं जानते नर मूरखतम ।

मुझ अव्यक्त निराकारी को । व्यक्तिभाव वाला मानें वो ॥७.२४॥

अन्त काल जो भाव लिये मन । करता याद, त्यागता है तन ।
 उसी भाव का चिन्तन करता – सदा प्राप्त वह ही जन करता ॥८.०६॥
 इसीलिये सब समय निरन्तर । याद मुझे कर और समर कर ।
 मुझमें बुद्धि-मनस से अर्पित । मुझे मिले, संशय नहीं किंचित ॥८.०७॥
 जो अनन्य मन से हे अर्जुन । सदा मुझे भजता है निशिदिन ।
 मुझमें रमा नित्य योगी जो । पार्थ, सुलभ अति ही मैं उसको ॥८.१४॥
 भक्ति अनन्य भाव से जो जन । करते हुए सतत मम चिन्तन ।
 मुझमें रमे भजन मम गाते । योगक्षेम सब मुझसे पाते ॥९.२२॥
 पत्र-पुष्प-फल-जल जो भी जन । भक्तिभाव से करता अर्पण ।
 शुद्ध बुद्धि से जो पाता हूं । दिया भक्ति से, मैं खाता हूं ॥९.२६॥
 मुझमें तन-मन-भक्ति रमा कर । भक्त प्रणाम मुझे वन्दन कर ।
 हो एकात्म मुझी में आश्रित । मुझे प्राप्त होगा तू निश्चित ॥९.३४॥
 सब जग का उद्भव हूं मैं ही । जग-विकास-प्रेरक हूं मैं ही ।
 मान यही, श्रद्धामय बुद्धजन । निशिदिन करते मेरा पूजन ॥१०.०८॥
 मेरे लिये कर्म करता जो । मुझ में रम, मम भक्त रहा जो ।
 अनासक्त निर्वैर सभी में । पाता है, हो एक मुझी में ॥११.५५॥
 मनसबुद्धि मुझमें लगा, मम चिन्तन हर सांस ।
 निस्संदेह तुम्हें मिले, तब मुझमें ही वास ॥१२.०८॥
 सब नश्वर जीवों में जो नर । देखे अविनाशी परमेश्वर ।
 तुल्यभाव से पूर्ण अवस्थित । वही देखता सत्य सुनिश्चित ॥१३.२७॥
 निश्चल भक्तियोग से जो नर । भजता मुझको नित्य निरन्तर ।
 गुणातीत जो पूर्ण हुआ है । ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य महा है ॥१४.२६॥
 सब के हृदय-अवस्थित हूं मैं । समाधान-ज्ञान-स्मृति हूं मैं ।
 मैं ही हूं वेदान्त-प्रणेता । वेद-ज्ञेय, वेदज्ञ सचेता ॥१५.१५॥ ॥
 काम, क्रोध अरु लोभ हैं, त्रिविध नरक के द्वार ।
 नर यूं तीनों ये तजे, आत्मा नाशन हार ॥१६.२१॥
 सत्य, प्रिय, औ सब को हितकर । अति उद्वेग-विहीन वचन वर ।
 शास्त्र-पठन अभ्यास बढ़ाता । वाणी का तप वह कहलाता ॥१७.१५॥
 श्रद्धा भक्ति से तत्त्व को जाने । कौन हूं, कैसा हूं पहचाने ।
 जाना मुझे तत्त्वतः जैसे । मुझ में बसा तुरत वह जैसे ॥१८.५५॥
 यंत्र-चढ़े सा जीव को, निज माया से ईश ।
 भरमाते मन मन बसे, अर्जुन, मैं जगदीश ॥१८.६१॥
 सब धर्मों का त्याग करो तुम । केवल मेरी शरण गहो तुम ।
 सब पापों से मुक्ति विसर्जन । करूं, शोक मत कर तू, अर्जुन ॥१८.६६॥
 परम भक्ति से मुझ में रम कर । भक्तों में मम गूढ़ परम वर ।
 जो यह शास्त्र-ज्ञान गायेगा । निस्संदेह मुझे पायेगा ॥१८.६८॥
 हैं योगेश्वर कृष्ण मुरारी । और जहां अर्जुन धनुधारी ।
 वैभव, विजय, नीति, श्री, सारे । ध्रुव हैं, मत में, वहां हमारे ॥१८.७८॥

हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत्
 श्रीकृष्णार्पणं अस्तु शुभं भूयात्
 ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

Download Gita in Hindi prose or Sanskrit from:

www.gita-society.com/hindi.htm

